

जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन

वस्तुस्वरूप और पर्याय

पर्याय की अवधारणा जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है। जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। किन्तु अनेकान्त का आधार पर्याय की अवधारणा है। सामान्यतया पर्याय शब्द परि+आयः से निष्पन्न है। मेरी दृष्टि जो परिवर्तन को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। राजवार्तिक (१/३३/१/९५/६) 'परि समन्तादायः पर्याय, के अनुसार जो सर्व ओर से नवीनता को प्राप्त होती है वही पर्याय है। यह होना (becoming) है। वह सत्ता की परिवर्तनशीलता की या सत् के बहु आयामी (Multi dimensional) होने की सूचक है। वह यह बताती है कि अस्तित्व प्रति समय परिणमन या परिवर्तन को प्राप्त होता है इसलिए यह भी कहा गया है कि जो स्वभाव या विभाव रूप परिणमन करती है, वही पर्याय है। जैन दर्शन में अस्तित्व या सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद-व्यय का जो सतत् प्रवाह है वही पर्याय है और जो इन परिवर्तनों के स्वस्वभाव से च्युत नहीं होता है, वही द्रव्य है। अन्य शब्दों में कहें तो अस्तित्व में जो अर्थक्रियाकारित्व है, गत्यात्मकता है, परिणामीपन या परिवर्तनशीलता है, वही पर्याय है। पर्याय अस्तित्व की क्रियाशीलता की सूचक है। वह परिवर्तनों के सातत्य की अवस्था है। अस्तित्व या द्रव्य दिक् और काल में जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है, जैन दर्शन के अनुसार यही अवस्थाएं पर्याय हैं अथवा सत्ता का परिवर्तनशील पक्ष पर्याय है। बुद्ध के इस कथन का कि 'क्रिया है, कर्ता नहीं' का आशय यह नहीं है कि वे किसी क्रियाशीलतत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरेपक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्ध दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे भी न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य है जबकि जैन दार्शनिकों ने उसे

नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। सत् को अव्यय या अपरिवर्तनशील मानने का एकान्त पक्ष और सत् को परिवर्तनशील या क्षणिक मानने का एकान्त पक्ष जैन और बौद्ध विचारकों को स्वीकार्य नहीं रहा है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि महावीर ने जहाँ अस्तित्व के उत्पाद-व्यय पक्ष अर्थात् पर्याय पक्ष के साथ-साथ ध्रौव्यपक्ष के रूप में द्रव्य को भी स्वीकृति प्रदान की है। वहाँ भगवान् बुद्ध ने अस्तित्व के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल दिया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दर्शन की अस्तित्व की व्याख्या जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा के अतिनिकट है। बौद्धों ने पर्याय अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति को ही अस्तित्व मान लिया। बौद्ध दर्शन ने परिवर्तनशीलता और अस्तित्व में तादात्म्य माना और कहा कि परिवर्तनशीलता ही अस्तित्व है (Becoming is real)। जैन दर्शन ने भी द्रव्य (Being) और पर्याय (Becoming) अर्थात् 'अस्तित्व' और 'होने' में तादात्म्य तो माना किन्तु तादात्म्य के साथ साथ दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया अर्थात् उनमें भेदाभेद माना।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्ववादी परस्परा के अनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल 'उपत्रेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ' या इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का यह उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और यही उसकी पर्याय की अवधारणा का आधार भी है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, ५/२१), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य

गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है जिसमें उत्पत्ति और विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक क्षणिक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकता। जैन दर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में हम द्रव्य, गुण और पर्याय के सह सम्बन्ध के बारे में चर्चा करेंगे।

द्रव्य और पर्याय का सहसम्बन्ध

हम यह पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि जैन परम्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर द्रव्य ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर अस्तिकाय और द्रव्य इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय है वे निश्चय ही द्रव्य हैं। इन दोनों शब्दों में भी द्रव्य शब्द मुख्याः अन्य परम्पराओं के प्रभाव से जैन दर्शन में आया है उसका अपना मूल शब्द तो अस्तिकाय ही है। इसमें 'अस्ति' शब्द सत्ता के शाश्वत पक्ष का और काय शब्द अशाश्वत पक्ष का सूचक माना जा सकता है। वैसे सत्ता को काय शब्द से सूचित करने की परम्परा श्रमण धारा के प्रकुधकात्यायन आदि अन्य दार्शनिकों में भी रही है। **भगवतीसूत्र** में द्रव्य पक्ष की शाश्वतता और पर्याय पक्ष की आशाश्वतता का चित्रण उपलब्ध होता है उसमें कहा गया है कि 'द्वद्वाए सिय सासया पज्जवद्वाए सिय असासया' अर्थात् अस्तित्व को द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत (अनित्य) कहा गया है। इस तथ्य की अधिक स्पष्टता से चित्रित करते हुए **सन्मतितर्क** में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर लिखते हैं—

उपज्जन्ति चयन्ति आ भावा नियमेण पज्जवन्तस्स ।

द्वद्वद्वियस्स सव्वं सया अणुप्यत्र अविणट्ठं ।।

अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अस्तित्व या वस्तु उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है।

उमास्वाति के **तत्त्वार्थसूत्र** सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में सत् द्रव्यलक्षणं (४/२१) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्व है। जो अस्तित्वान् है, वही द्रव्य है। किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होता है कि द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो 'द्रव्यते इति द्रव्य' : के आधार पर उत्पाद-व्यय रूप अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। इसी आधार पर यह कहा गया है जो त्रिकाल में परिणमन करते हुए भी अपने स्व स्वभाव का पूर्णतः परित्याग न करे उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार **तत्त्वार्थसूत्र** (५/२९) में उमास्वाति ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी बताया। यदि सत् और द्रव्य एक ही है तो फिर द्रव्य को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है। साथ ही उमास्वाति ने **तत्त्वार्थसूत्र** (५/३८) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **पंचास्तिकायसार** और **प्रवचनसार** में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य की परिभाषित किया है। **पंचास्तिकायसार** (१०) में वे कहते हैं कि द्रव्य सत् लक्षण वाला है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए **प्रवचनसार** (१५-१६) में वे कहते हैं जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा गुण-पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार **कुन्दकुन्द** ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में उमास्वाति के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणपर्यायवत् द्रव्य कहकर जैन दर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि **तत्त्वार्थसूत्र** में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिकसूत्र के 'द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता' (१/२/८) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैन दर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। इसी तथ्य को मीमांसा दर्शन में इस रूप में स्वीकार किया गया है—

वर्द्धमानकभंगेच, रुचकः क्रियते यदा ।

तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाय्युत्तरार्थिनः ॥२१॥

हेमार्थिनस्तुमाध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।

नोत्पादस्थितिभंगानामभावेसन्मति त्रयम् ॥२२॥

न नाशेन विनाशोको, नोत्पादेन विनासुखम् ।

स्थित्याविना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यं नित्यता ॥२३॥

मीमांसाश्लोक वार्तिक पृ-६१

अर्थात् वर्द्धमानक (बाजूबंद) को तोड़कर रुचकहार बनाने में वर्द्धमानक को चाहने वाले को शोक, रुचक चाहने वाले को हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को न हर्ष और न शोक होता है। उसका तो माध्यस्थ भाव रहता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु या सत्ता उत्पाद भंग और स्थिति रूप होती है क्योंकि नाश के अभाव में शोक, उत्पाद के अभाव में सुख (हर्ष) और स्थिति के अभाव में माध्यस्थ भाव नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है मीमांसा दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। परिणमन यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है किन्तु इस प्रक्रिया में द्रव्य अपने मूल स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। स्व स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने से ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है। किन्तु प्रति क्षण उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जाता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड पर्याय का विनाश होता है। जब तक पिण्ड नष्ट नहीं होता तक तक घट उत्पन्न नहीं होता किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। अतः यह स्व-लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है। स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वे पर्याय कहलाती हैं। ये परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीव द्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु इसके चेतना लक्षण का परित्याग के बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता है, वे ही गुण स्वलक्षण कहे जाते हैं। यह स्वलक्षण ही द्रव्य स्वरूप है। जिन गुणों का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयी हैं—१ स्वभाव पर्याय और २. विभाव पर्याय। जो पर्याय या अवस्थाएँ स्व-लक्षण के निमित्त से होती हैं वे स्वभाव पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं वे विभाव पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन

(प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थाएँ आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्व-लक्षण उपयोग से फलित होती हैं, जबकि क्रोध आदि कषाय भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होती हैं, अतः वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य गुण और पर्यायों से अभिन्न है, वे तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मतितर्कप्रकरण** में स्पष्ट रूप से कहा है, द्रव्य से रहित गुण और पर्याय की सत्ता नहीं है। साथ ही गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की भी सत्ता नहीं है।

द्रव्यं पञ्जव विउअं दव्व विउत्ता पञ्जवा नत्थि ।

उप्पादड्डिइ भंगा हदि दविय लक्खणं एयं ।। - सन्मतितर्क १२

अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय में तदात्म्य है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अस्तित्व की अपेक्षा से उनमें तदात्म्य है किन्तु विचार की अपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् हैं। हम उन्हें अलग-अलग कर नहीं सकते किन्तु उन पर अलग-अलग विचार संभव है। बालपना, युवावस्था या बुढ़ापा व्यक्ति से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते हैं— फिर भी ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यही स्थिति द्रव्य, गुण और पर्याय की है।

गुण और पर्याय का सहसम्बन्ध :-

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व-लक्षण होते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में उमास्वाति ने द्रव्याश्रया निर्गुणागुणाः (५/४०) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर वे स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म-विरोधी सी लगती किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो फिर अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा। आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व-लक्षण है जबकि पर्याय द्रव्य विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। जिस द्रव्य का जो गुण है वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी अवस्थाओं का सूचक है। फिर भी गुण की ये अवस्थाएँ अर्थात् गुण-पर्याय बदलती हैं। द्रव्य के समान ही गुणों की पर्याय होती हैं जो गुण की भी परिवर्तनशीलता को सूचित करती हैं। जीव में चेतना की अवस्थाएँ बदलती हैं फिर भी चेतना गुण बना रहता है।

वे विशेषताएं या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। उदाहरण के रूप में धर्म-द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है। अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का और उपयोग जीव का लक्षण है। अतः गुण वे हैं जिसके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका अन्य द्रव्य से पृथक्त्व स्थापित करते हैं। **उत्तराध्ययन (२८/११-१२)** में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग ये जीव के लक्षण बातये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अन्धकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग-अलग माने गये हैं लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से वे पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं, जो कुछ ही द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे-अस्तित्व लक्षण सामान्य है जो सभी द्रव्य में पाया जाता है किन्तु चेतना आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो केवल जीव द्रव्य में पाये जाते हैं, अजीव द्रव्य में उनका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ गुण सामान्य और कुछ विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जबकि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं। गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। विशेष गुणों की एक अन्य विशेषता यह कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं। जीवों की चेतना पर्याय बदलती रहती है, फिर भी उनकी परिवर्तनशील चेतना पर्यायों में चेतना गुण और जीव द्रव्य बना रहता है।

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं। गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। **तत्त्वार्थ सूत्र (५/४०)** में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्व गुण

को छोड़कर जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है वही गुण है। द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम ग्रंथों में द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव माना गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** (२८/६) में द्रव्य को गुण का आश्रय स्थान माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्रकार के अनुसार गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय स्थल है किन्तु यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न-भिन्न सत्ता ही नहीं है तो उनमें आश्रय-आश्रयी भाव किस प्रकार होगा? वस्तुतः द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया यह विवेचन मूलतः वैशेषिक परम्परा के समीप लगता है। जैनों के अनुसार सिद्धान्ततः तो आश्रय-आश्रयी भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है जो एक-दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पूज्यपाद आदि कुछ आचार्यों ने 'गुणानां समूहो द्रव्यो' अथवा 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति' कहकर कर द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग-अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अन्य कोई सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह है कि वे एक-दूसरे से पृथक् होकर अपना अस्तित्व रखते हैं। यह दृष्टिकोण बौद्ध अवधारणा के समीप है। यह संघातवाद का ही अपररूप है जबकि जैन परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः द्रव्य के साथ गुण और पर्याय के सम्बन्ध को लेकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है, वही अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न हैं और उस दृष्टि से उनमें आश्रय-आश्रयी भाव भी देखा जाता है किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् (विविक्त) सत्ताएँ नहीं हैं अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है। डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य **जैन-दर्शन** (पृ० १४४) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिए, वह द्रव्य से अभिन्न है। किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। एक ही पुद्गल परमाणु में युगपत् रूप से रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर रूप, रस, गन्ध आदि पृथक्-पृथक् गुण हैं। अतः वैचारिक स्तर पर केवल एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है अपितु उस स्तर पर यह द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है किन्तु उसमें यह पर्याय परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होने वाले परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य के ही परिवर्तन हैं।

पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर्यायों और गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच जो एक अविच्छिन्नता का नियामक तत्त्व है, वही द्रव्य है। उदाहरण के रूप में एक पुद्गल परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं और उस गुण परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय भी बदलती रहती है, किन्तु इन परिवर्तित होने वाले गुणों और पर्यायों के बीच भी एक तत्त्व है जो इन परिवर्तनों के बीच भी बना रहता है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविक गुण कृत और वैभाविक गुण कृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है। इसलिए द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ-साथ उसके गुणों में भी उत्पाद, व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है उससे पृथक् होने पर जीव जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रति क्षण बदलती रहती हैं। अतः गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता रहता है। पुनः वस्तु का स्व-लक्षण कभी बदलता नहीं है अतः गुण में ध्रौव्यत्व पक्ष भी है। अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण युक्त है। गुण में जो उत्पाद-व्यय या अवस्थान्तरण होता है, उसे हम गुण की पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार कोई भी द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार कोई भी गुण पर्याय से रहित नहीं होता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य एवं गुण में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है इन्हें ही द्रव्य की पर्याय कहते हैं। द्रव्य-पर्याय स्ववर्गीय अनेक द्रव्याश्रित होती है, जबकि गुण पर्यायें एक द्रव्याश्रित होती हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि द्रव्य गुण संघात (समुदाय) रूप है तो फिर द्रव्य और गुण की अलग-अलग पर्याय मानने की क्या आवश्यकता है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु रूप भी हैं अतः द्रव्य की स्कन्ध, देश, प्रदेश या परमाणु रूप पर्याय अर्थात् उसके आकार आदि द्रव्य पर्याय हैं। द्रव्य में अनन्तानन्त गुण होते हैं और उन गुणों में प्रति समय होने वाली षट् गुण हानि वृद्धि गुण पर्याय हैं। उदाहरण के रूप में एक मिट्टी का घड़ा है, वह मृत्तिका रूप पुद्गल द्रव्यों की आकृति है यह आकृति द्रव्य पर्याय है किन्तु यह काला या लाल है—यह काला या लाल होना गुण पर्याय है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रति क्षण जलने वाला तेल बदलता रहता है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत् रूप से परिवर्तन या परिणामन को प्राप्त होता रहता है। फिर भी द्रव्यत्व यथावत् रहता है। द्रव्य में होनेवाला यह परिवर्तन या परिणामन

ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है, बालक से किशोर और किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु काल तक प्रत्येक व्यक्ति के देह की शारीरिक संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रति क्षण होनेवाले इन परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि पर्याय जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय का यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की यह यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है। बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होता रहता है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होनेवाला परिवर्तन ही पर्याय है। पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था विशेष है। दार्शनिक जगत् में पर्याय का जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है, उसमें आगम में किंचित् भिन्न अर्थ में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। दार्शनिक ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम में पर्याय का निरूपण द्रव्य के क्रमभावी परिणामन के रूप में नहीं हुआ है। आगम में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं में प्राप्त होता है, उन्हें उस पदार्थ का पर्याय कहा गया है। जैसे जीव की पर्याय हैं—नारक, देव, मनुष्य, तिर्यच, सिद्ध आदि। **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य और उनके विभिन्न प्रकारों की पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन है। इसमें उन द्रव्यों को सामान्य अपेक्षा से सम्भावित कितनी पर्यायें होती हैं इसकी भी चर्चा है।

पर्याय द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्यायों का उल्लेख **अनुयोगद्वारसूत्र** में इस प्रकार हुआ है—एक गुण काला, द्विगुण काला यावत् अनन्त गुण काला। इस प्रकार काले गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। इसी प्रकार नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्याय भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्त गुण तक की पर्यायें होती हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है। एक पर्याय का दूसरे पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक-दूसरे से पृथक् होती हैं। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार संस्थान अर्थात् आकृति

की दृष्टि से भी पर्याय-भेद होता है। ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में हम जिसे पर्याय कहते हैं उसे महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य के पशपाशाहिक में आकृति कहा है। वे लिखते हैं 'द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या' । जिस पर्याय का संयोग (उत्पाद) होता है उसका विनाश भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता। फिर भी द्रव्य की वे पर्यायें स्थिर भी नहीं रहती हैं वे प्रति समय परिवर्तित होती रहती हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्याय परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया है। द्रव्य में प्रति क्षण पूर्व पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसमें या जिसके सहारे घटित होती है या जो परिवर्तित होता है, वही द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय में भी कथंचित् तादात्म्य इस अर्थ में है पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है और न द्रव्य से पृथक् होकर पर्याय का ही कोई अस्तित्व होता है। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग सत्ताएँ नहीं हैं। वे तत्त्वतः अभिन्न हैं किन्तु द्रव्य के बने रहने पर भी पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम घटित होता रहता है। यदि पर्याय उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, तो उसे द्रव्य से कथंचित् भिन्न भी मानना होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था व्यक्ति से पृथक् कहीं नहीं देखी जाती । वे व्यक्ति में ही घटित होती हैं और व्यक्ति से अभिन्न होती हैं किन्तु एक ही व्यक्ति में बाल्यावस्था का विनाश और युवावस्था की प्राप्ति देखी जाती है। अतः अपने विनाश और उत्पत्ति की दृष्टि से वे पर्यायें व्यक्ति से पृथक् ही कही जा सकती हैं। वैचारिक पर प्रत्येक पर्याय द्रव्य से भिन्नता रखती है । संक्षेप में तात्त्विक स्तर पर या सत्ता की दृष्टि से हम द्रव्य और पर्याय को अलग-अलग नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न हैं । किन्तु वैचारिक स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जबकि द्रव्य बना रहता है, अतः वे द्रव्य से भिन्न भी होती हैं और अभिन्न भी । जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता उनके अनेकांतिक दृष्टिकोण की परिचायक है।

पर्याय के प्रकार

(क) जीव पर्याय और अजीव पर्याय

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए द्रव्यानुयोग

(पृ० ३८) में उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी म० सा० कमल लिखते हैं कि प्रज्ञापना (सूत्र) में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं— १. जीव पर्याय और २. अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं। जीव पर्याय किस प्रकार अनन्त होती है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्विन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, तिर्यञ्च्योनिक और मनुष्य ये सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव पर्यायें अनन्त हैं। इसी प्रकार अजीव पुद्गल आदि रूप है, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर में इनके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश (Degrees) होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें होती हैं। जिनका विस्तृत विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के पर्याय पद में किया गया है।

(ख) अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय

पुनः पर्याय दो प्रकार की होती है— १. अर्थपर्याय और २. व्यञ्जनपर्याय। एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण में परिवर्तित होने वाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थ पर्याय कहते हैं तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है उसे व्यञ्जन कहते हैं। अर्थ पर्याय सूक्ष्म एवं व्यञ्जन पर्याय स्थूल होती है। ज्ञातव्य है कि धवला (४/१/५.४/३३७/६) में द्रव्य पर्याय को ही व्यञ्जन पर्याय कहा गया है और गुण पर्याय को ही अर्थ पर्याय भी कहा गया है। द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यञ्जन पर्याय ही द्रव्य पर्याय और अर्थ पर्याय ही गुण पर्याय है तो फिर इन्हें पृथक्-पृथक् क्यों बताया गया है, इस उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यञ्जन पर्याय चिरकायिक होती है, जैसे जीव की चेतन पर्याय सदैव बनी रहती है चाहे चेतन अवस्थाएं बदलती रहें, इसके विपरीत अर्थ पर्याय गुणों और उनके अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती है। व्यञ्जन पर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना पर्यायें जो सभी जीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं। वे द्रव्य की सहभावी पर्यायें हैं और अर्थ पर्याय विशेष है जैसे किसी व्यक्ति विशेष की काल विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएं, अतः अर्थ पर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल क्रम में घटित होती रहती हैं अतः कालकृत भेद के आधार पर उन्हें द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय से पृथक् कहा गया है।

(ग) ऊर्ध्वपर्याय और तिर्यक्पर्याय

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक् पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं वे तिर्यक् पर्याय कही जाती हैं। जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रति क्षण होने वाले पर्याय परिणामन को ऊर्ध्व पर्याय कहा जाता है। तिर्यक् अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व पर्याय भेद में अभेद ग्राही है। यद्यपि पर्याय दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में तिर्यक् पर्याय द्रव्य सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्व पर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कही जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्याय होती हैं। जैसे कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषाय रूप परिणामन हैं वे विभाव पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता-द्रष्टा भाव स्वभाव पर्याय है। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव पर्याय नहीं हैं। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश का विभाव पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्ड द्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ) सजातीय और विजातीय द्रव्य पर्याय

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह सजातीय द्रव्य पर्याय है जैसे समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय है।

(च) कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय

स्वभाव पर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। पर्यायों में परस्पर कारण कार्य भाव होता है। जो स्वभाव पर्याय कारण रूप होती है कारण शुद्ध पर्याय है और जो स्वभाव पर्याय कार्य रूप होती है वे कार्य शुद्ध पर्याय हैं, किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप से समझना चाहिए क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है। इसी क्रम में विभाव पर्यायों को भी कार्य अशुद्ध पर्याय या कारण अशुद्ध पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी पर्याय कही जाती हैं जैसे पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है, वे क्रम भावी पर्याय हैं। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं वे सामान्य पर्याय कही जा सकती हैं जैसे अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों (Degrees) की अपेक्षा से भेद होता है अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश काला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं जबकि गुणात्मक दृष्टि से काला, लाल, श्वेत आदि अथवा खट्टा-मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक, देवता आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रतिभासिक मानते हैं। उनका कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की परम सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, वह सत् नहीं है, मात्र प्रतिभास है। उनके अनुसार परम सत्ता (ब्रह्म) निर्गुण है। इसी प्रकार विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुतः उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है। अतः वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती है तो उनसे हमें जो संवेदना होती वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग अंधता होती तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत-श्याम रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता। लालादि रंगों के अस्तित्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति हैं वास्तविक नहीं अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण

और पर्याय भी मात्र प्रतिभास हैं। चित्त-विकल्प वास्तविक नहीं हैं।

किन्तु जैन दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Realist) के समान द्रव्य के साथ-साथ गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं। जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय (Idea) या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश-कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का चैतसिक स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके चैतसिक स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं, जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अतः अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती है। जैनों के अनुसार अनुभूति का प्रत्येक विषय अपनी वास्तविक सत्ता रखता है। इससे न केवल द्रव्य अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक (Real) सिद्ध होते हैं। सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन आचार्यों ने उसे अस्तिकाय कहा है। अतः उत्पाद-व्यय धर्मा होकर भी पर्याय प्रतिभास न होकर वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्वपूर्ण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं, यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेने पर कि पर्यायों के घटित होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैन दर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों के त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, तो इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की सम्भवना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय परिणामन होना है वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध में व्यर्थ के संकल्प-विकल्प से मुक्त रह कर समभाव में रह सकता है दूसरे उसमें कर्तृत्व का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है। किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है कि इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति निराशावादी और अकर्मण्य बन जाता है। अपने भविष्य को संवारने का विश्वास भी व्यक्ति के पास नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है अतः इसमें नैतिक उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है तो

उसे किसी भी अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता ।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त के आधार पर पुरुषार्थ की सम्भावना से इन्कार नहीं करते हैं। किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ भी नियत है और व्यक्ति संकल्प स्वातन्त्र्य के आधार पर अन्यथा कुछ करने में समर्थ नहीं हैं तो उसे पुरुषार्थ कहना भी उचित नहीं है और यदि पुरुषार्थ नियत है तो फिर वह नियति से भिन्न नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा में व्यक्ति नियति का दास बनकर रह जाता है। चाहे पंचकारणसमवाय के आधार पर कार्य में पुरुषार्थ आदि अन्य कारण घटकों की सत्ता मान भी ली जाये तो भी वे नियत ही होंगे अतः क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद से भिन्न नहीं होगी। नियतिवाद व्यक्ति को संकल्प-विकल्प से और कर्तृत्व के अहंकार से दूर रखकर चित्त को समाधि तो देता है, किन्तु उसमें नैतिक उत्तरदायित्व और साधनात्मक पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा वाले पक्ष की ओर से यह कहा जाये कि जो असर्वज्ञ है वह अपने भावी को नहीं जानता है अतः उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। किन्तु इस कथन को एक सुझाव मात्र कहा जाता है, इसके पीछे सैद्धान्तिक बल नहीं है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में मेरी समस्त भावी पर्यायें नियत हैं तो फिर पुरुषार्थ करने का क्या अर्थ रह जाता है। और जैसा कि पूर्व में कहा गया है यदि पुरुषार्थ की पर्यायें भी नियत हैं तो फिर उसके लिए प्रेरणा का क्या अर्थ है?

क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा के पक्ष में सर्वज्ञता की अवधारणा के अतिरिक्त एक अन्य तर्क कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की कठोर व्याख्या के आधार पर भी दिया जाता है। यदि कार्य कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त को अपने कठोर अर्थ में लिया जाता है तो फिर इस व्यवस्था के अधीन भी सभी पर्यायें नियत ही सिद्ध होंगीं। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता का जो अर्थ परवर्ती जैन आचार्यों ने लिया है, उसका ऐसा अर्थ प्राचीन काल में नहीं था। उस समय सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ था या अधिक से अधिक तात्कालिक सभी दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान था। **भगवतीसूत्र** की यह अवधारणा कि “केवली सिय जाणई सिय ण जाणई” से भी सर्वज्ञता का वह अर्थ कि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों त्रैकालिक पर्यायों को जानता है खण्डित होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट कहा है कि निश्चय नय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ होता है, सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानता है, यह मात्र व्यवहार कथन है और व्यवहार अभूतार्थ है। इस सम्बन्ध में पं० सुखलालजी, डॉ० नगीन जे० शाह और मैंने विस्तार से चर्चा की है, यहाँ उस चर्चा को दोहराना आवश्यक नहीं है। पुनः जैन कर्म सिद्धान्त में कर्मविपाक में उद्वीरणा, संक्रमण, अपवर्तन और उदवर्तन आदि की

जो अवधारणाएँ हैं वे कर्म व्यवस्था में पुरुषार्थ की सम्भावनाएँ स्पष्ट कर देती हैं। पुनः यदि महावीर को क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा मान्य होती तो फिर गोशालक के नियतिवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की स्थापना वे क्यों करते? जहाँ तक मेरी जानकारी है न तो **भगवती, प्रज्ञापना** आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और न **षट्खण्डागम, कसायपाहुड** आदि दिगम्बर आगमों में तथा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कहीं क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट अवधारणा है। फिर भी क्रमबद्ध पर्याय के सम्बन्ध में डॉ० हुकमचन्द्र जी भारिल्ल का जो ग्रन्थ है वह दर्शन जगत् में इस विषय पर लिखा गया एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में मत वैभिन्य अपनी जगह है किन्तु पर्यायों की क्रमबद्धता के समर्थन में सर्वज्ञता को आधार मान कर दी गई उनकी युक्तियाँ अपना महत्व रखती हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में गहन चर्चा में न जाकर अपने वक्तव्य को यही विराम देना चाहूंगा और विद्वानों से अपेक्षा करूंगा कि पर्याय के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अपना चिन्तन प्रस्तुत करें।

